अर्णव

(रूपमाला छंद)

गगन हित बनते सुविस्तृत
स्वच्छ तुम आदर्श
प्रतिच्छवि उसकी दिलाती
नीलिमा उत्कर्ष ।। 1

शुभ्र होकर भी मिली
हरि देह सम जो कांति
नभस्था यह धरा देती
दीर्घ नीलम भ्रांति ।। 2

पुलकिता होती धरणि
पाकर तुम्हारा स्पर्श
तटवनोदिततुंगतरुलोमा
जताती हर्ष ।। 3

शिलोच्चय बनते तुम्हारी
वीचियों के वाद्य
गूंजते हैं ताल लय में
बद्ध से स्वर आद्य ।। 4

मनुजमन - वसुनिधि - समुत्थित
वृत्ति के विक्षेप
वितत अगणित वीचिधर
क्या बाह्य तुम प्रक्षेप ।। 5

चित्त मरुधर में जहां
मृगतृष्णिका विस्तार
उदधि तुम भी तो नहीं
करते तृषा अपहार ।। 6

बल नहीं उपयोगिता ही
कीर्ति का आधार
भूतिप्रद का देखता है
लोक क्या आकार ।। 7

सुंदरी का कंठ मौक्तिक
कंबु देवागार
प्राप्त करता मत्स्य देखो
जाल का अधिकार ।। 8

चतुर्दिक से सदा करते
मात्र जो आदान
अष्टभुज सम वे न पाते
जगत में सम्मान ।। 9

एक दिन जब नीरनिधि तट पर
लगाया ध्यान।
हुआ विस्मृत विश्व का
फिर आत्म का भी ज्ञान ॥10

उदित सागर गर्भ से फिर
शब्द कुछ गंभीर
श्रवणगत होने लगे ज्यों
कंधि हो सशरीर ॥ 11

यहां आकर देखते हैं
मानवों के नेत्र।
मात्र मेरी उर्मियों को
या सुविस्तृत क्षेत्र ॥ 12

केलि करते वारि में या
हो शिला आसीन।
मात्र कहते बात अपनी
श्रवण रूचि से हीन ॥ 13

और कुछ है जिन्हे बस
अंवेष्य रहती मीन।
अन्य नर नौपरिवहन में
रात दिन तल्लीन ॥ 14

लोक रुचि अब हो गई
गांभीर्य के विपरीत
सतह पर जो तैरते वे
आज पाते जीत ।। 15

हैं कहां अब साहसी
जिज्ञासु गोताखोर
मात्र कृत्रिम मोतियों पर
जगत का है जोर ।। 16

लोक भय का या उपेक्षा
का विषय गांभीर्य
त्वरित अर्जन में लगाते
नव सुधी बलवीर्य ।। 17

कूप वापी या कि लघुसर
से चले यदि काम
तोय निधि का कौन ले
अज्ञात वैभव नाम ।। 18

यदि सकल अभिप्रेत नर के
बने प्रतिनिधि साध्य
कष्ट से परितोष्य हो फिर
नृपति क्यों आराध्य ।। 19

कूप है आच्छाद्य वापी शोष्य
सर परिक्राम्य
अब्धि में सुविधा नहीं यह
क्यों बने फिर काम्य ।। 20

स्थूलध्वनि अवबोध सक्षम
वीचि का ही नाद ।
सुन चले जाते अश्रुत
मेरा रहा संवाद ॥ 21

मात्र व्यंजित वीचि से मम
हर्ष या अवसाद
किंतु पटु अवबोध में
नर में कहां अप्रमाद ॥ 22

आज पाकर सुधी श्रोता
फूटते हैं शब्द ।
मौन में बीते हमारे
मित्र शतश: अब्द ॥ 23

आज पा उपयुक्त अवसर
बह चले उद्गार ।
आज शायद हो सके
हल्का हृदय का भार ॥ 24

मैं नही हूं मात्र खारे
सलिल का विस्तार ।
मात्र उठती तरंगे ही
है न मम आकार ॥ 25

उदधि में उतरे बिना
होता न उसका ज्ञान
छोड़ना पड़ता वहां
निज प्रज्ञता अभिमान ।। 26

लुप्त परिमितता वहां
स्वातंत्र्य की उपलब्धि
सकल सीमाएं मिटाता
हो वही है अब्धि ।। 27

मात्र मुझसे ही समुत्थित
सकल यह जलतत्व
और मुझमें लौट आता
जानकर पितृत्व ।। 28

बिना जाने ही प्रवाहित
है सलिल मम ओर
दौड़ती है विकल सरिता
छोड़ नग का छोर ।। 29

कौन पाता जगत में
गतिमान हो विश्राम
प्रिय किसे लगता नहीं
है लौटना निज धाम ।। 30

निंद्य क्यों लावण्य हो मम
भूमि का यह दान ।
क्षार लेकर क्षमा को
देता हरित परिधान ॥ 31

मुझे जाना राम ने
वांछित हुई जब राह।
मुझे माना जब सुरों में
उठी अमृत चाह ॥ 32
पवनसुत ने कर दशानन
पुर हुताशनसात ।
पुच्छपावकशमनहित
मांगा हमारा साथ ॥ 33

सकल जित वसुधा करी जब
विप्रवर को दान ।
वारि निधि ने ही रखा था
रेणु का सुत मान ॥ 34

हट गया पीछे प्रकट की
नवल धरिणी तूर्ण ।
दत्तवस्तु अभोग का प्रण
हुआ भृगु का पूर्ण ॥ 35

रुक्मिणि शिशु का मीनालय में
शम्बर कृत प्रक्षेप
कालभीति का किंचित भी क्या
कर पाया अवक्षेप ॥ 36

मृत्यु टालने का हर उद्यम
पाता बस वैफल्य
मात्र ज्ञान से मिलता जग में
जीवों को कैवल्य ॥ 37

दूर क्षिप्त भी जनवशकर्ता
है यह अतनु महान
रति रतिपति वियोग को शाश्वत
किया न हर ने जान ॥ 38

गुरुदक्षिणा विधान हेतु हरि
मुझमें हुए प्रविष्ट
पंच जनासुर मार हरा द्रुत
गुरुसुत परम अनिष्ट ॥ 39

देख द्विबाहु रूप स्वामी का
पा पदयुग संस्पर्श
उमड़ पड़ा सोत्साह सहज ही
परम असंवृत हर्ष ॥ 40

परक्षय का पर उद्यम देखा
बाधित होता पूर्ण
धैर्य शक्ति स्वामी से लेकर
हुआ संयमित तूर्ण ॥ 41

कभी हानिप्रद हो जाता है
सेवक जन उत्साह
जगत भूतिरत जन नायक की
रुकती सी है राह ॥ 42

प्रतिग्रह जमदग्नि सुत बन
कृष्ण बन प्रतिदान
भूमि विनिमय कंधि से
सब जानते मतिमान ॥ 43

मात्र लीला है तुम्हारी
विश्वपति सर्वेश
राम बनकर मांगते पथ
हो विजित लंकेश ।। 44

असुर क्षय के गुरु समुद्यम
मैं न देते योग
अक्रिय, बाधारूप, बाधक
शत्रु से सहयोग ।। 45

या कि करते बुद्धि धन का
शत्रु हित विनियोग
सघन परिरक्षण सुगोपन
शत्रुधन उपयोग ।। 46

या कि रिपुनय के समर्थन
में उठाते अस्त्र
अनघ नरता रुधिर से जिनके
सने हों वस्त्र ।। 47

क्यों न हों उन पर सदय भी
दनुजरिपु का कोप
असुरता सहयोग का
जिन पर प्रकट आरोप ।। 48

मम अनाश्रवता समद थी
सहज हरि का रोष
शरण में फिर भी लिया था
कर क्षमा गुरु दोष ।। 49

उदधि से भी दासरथि का
हृदय है सुविशाल
बरसती करुणा सहज ही
देखकर नतभाल ।। 50

दलन कर दुर्वृत्तजन का
पाप का हर भार
प्रतिष्ठा कर धर्म की
कर लोक का उपकार ॥ 51

पुनः आते लौट हरि
करने यहां विश्राम
धन्य करने सिंधु को
त्रैलोक्य के सुखधाम॥52

और आदिम जो धरे
अवतार में भी वेश
दास आलय में रहे
करुणार्द्र हो सर्वेश॥53

यदपि भूचर तृषा शामक
हैं नहीं मम विंदु
वारिचर पालक युगों से
क्या नहीं है सिंधु ॥ 54

जो जिस पर आश्रित उसका वह
अभिरक्षक है सत्य
आश्रित पालित वध हो सकता
बस नरता का कृत्य ॥ 55

जलद जल लेकर हमारा
अवनि को अभिसिक्त।
सतत करते किंतु क्या
अंभोधि होता रिक्त ॥ 56

अल्पता आती न वसु में
यदि प्रयुक्त परार्थ।
भोग संचय को मनीषी
मानते हैं व्यर्थ ॥ 57

मात्र जलवाहक बना वारिद
यहां पर अब्द
ग्रहीता दाता बना
दाता रहा निःशब्द ॥ 58

मात्र शोषण ग्रहण करना
कालिमा का हेतु
सघन जलधर ज्यों बना
करता तिमिर का केतु ।। 59

वही फिर सितवर्ण होता
वारि का कर दान
कौन जीवन दान दाता
बहु न पाता मान ।। 60

लवणता संवरित कर मृदु
अंबु का ही दान।
दिया पर नर ने लिया
लावण्य का संज्ञान ॥ 61

श्लाघ्य तन्वी तनुस्थित
इस लोक में लावण्य
निंद्य पर मुझमें अवस्थिति
धन्य यह कार्पण्य॥ 62

और कांता कांतिवर्धक
विपुल मौक्तिक शुभ्र।
धारता हूं गर्भ में ज्यों
सित हिमोपल अभ्र ॥ 63

नीलिमा से शुभ्रता का
सृजन करता सिंधु।
हम न होते तो इला
बनती बृहत्तर इंदु ॥ 64

कोटिशः अति विविध वर्णी
जीव जग आधार।
विकल सरिता वृंद हित हम
शांति के आगार ॥ 65

मात्र मौद्रिक कार्य जब
है लोक में बहुगेय
सूक्ष्मतर अनुदान कैसे
हों वहां संज्ञेय ॥ 66

(सरसी छंद)

मत्स्य न्याय सिद्धांत खोजने
वाले सुनलें प्रज्ञ।
मात्रभूमि तक यह परिसीमित
सागर इससे अज्ञ ॥ 67

शेष अन्यथा बस गिनती के
रह जाते जल जीव।
रखी प्रथम हमनें ही भू पर
इस जीवन की नींव ॥ 68

(रूपमाला छंद)

इस अवनि पर सिंधु सा है
साम्यवादी कौन
मनुजकृत वैषम्य वर्धन
क्यों सहेगा मौन।। 69

यदि करे मानव उपक्रम
यहां पर समवेत।
परम दुर्लभ रत्न गण का
है यहां अतिरेक ॥ 70

सुधा भी है प्राप्य मन यदि
रत्न लिप्सा मुक्त।
छलार्जित अमरत्व लाता
दंड भी उपयुक्त ॥ 71

शिखर हो या अतल गव्हर
हमारा तल एक।
चखो चाहे जहां पर जल
स्वाद रहता एक ॥ 72

मात्र वसुनिधि नहीं वसुनिधि भी
रहे हम मान्य।
अब्धिजा उद्भव यहां से
जानते सुवदान्य ॥73

(सरसी छंद)

रखते पास नहीं हम अपने
निर्जीवन नि:सार।
अंतर में सयत्न गोपित है
रत्नों का परिवार ॥ 74

मित्र सोम का देख अलौकिक
उज्जवल पूर्ण विकास।
हर्ष उमड़ता मेरे उर में
पटु असीम उल्लास ॥ 75

सुहृद अभ्युदय देख न किसको
होता सहज प्रहर्ष।
सहृदय कौन न रोता जग में
देख स्वजन अपकर्ष ॥ 76

(रूपमाला छंद)

बंधु विग्रह जनित क्षय से
परम शोकाविष्ट।
शमार्थी सत्वर हुए
बलसिंधु सिंधु प्रविष्ट ॥ 77

देखकर निस्सारता जग की
प्रकट बलराम।
तज रसा नीरस गए
उपरमित मन निजधामं ॥ 78

वीचि जो तट ओर बढ़ती
तुंगता को प्राप्त
वहां गिरती शब्द करती
अंत को संप्राप्त || 79

गहनता यदि न्यून हो तो
त्वरित बढ़ता गर्व
अंत में साघात गिरता
खो यहीं पर सर्व || 80

(सरसी छंद)

गर्व गरल मुझमें न जगाए
मम विस्तार अपार
करवाते प्रभु लघु खग गण से
मुझे पार बहु बार ॥ 81

(रूपमाला छंद)

यदपि हो सर्वोच्च नग तुम
इरा पर हिमवान
इस अलौकिक अभ्युदय पर
तुम न करना मान || 82

अतल सागर तलस्थित
उपजा तुम्हारा मूल
क्रोड वह शमदायिनी
हे गिरि न जाना भूल || 83

अभ्युदय दृढ़ है उन्हीं का
गहन जिनका मूल
वही सह सकते जगत में
पवन अति प्रतिकूल || 84

अद्रि के उन्नत शिखर पर
समुद जो आरूढ़
यदि उन्हें अज्ञात है जड़
सानु की अति गूढ़ || 85

अवपतन उनका करा देता
मृदुल भी वात
कहां सह सकते प्रकंपों
के विषम आघात।। 86

तारकित तुम हो वियत
हम रत्नचय से युक्त
उभय हैं सग्रह अविग्रह
नीलिमा संयुक्त।। 87

सखग दोनों शब्द गुणधर
अतल अति गंभीर
उभय से परिवृत्त वसुधा
मीनयुत धृत नीर।। 88

जैविकी मम संपदा लख
गगन है गतमान
मकर कर्कादिक रखे हैं
ऋक्षगण के नाम।। 89

अनुकरण महनीयता का
जगत में है लभ्य
किंतु है अपवाद यदि
लघु अनुकरणरत भव्य।। 90

एक गुण बस शब्द है
हे नभ तुम्हारे पास
उच्चता शब्दाश्रिता
जनती न दृढ़ विश्वास।। 91

क्रिया फल अनुगत न हो तो
शब्द है निस्सार
उच्चता भी शून्यगर्भा
जगत पर है भार।। 92

यदपि हम हैं चतुर्गुणयुत
पर न कुछ अभिमान
पूर्वजों से प्राप्त है
गुण संपदा अनुदान ।। 93

जनक गुण अतिशायिनी
संतति सुखों का हेतु
भूतभावी मध्य शुभ यह
निरंतरता सेतु ।। 94

क्रिया हित देते न यदि
आकाश तुम अवकाश
प्रकृति का नानात्व दिखता
किसे फिर सविलास ।। 95

भूत भूतिद वसु सुवितरण
में सहायक आप
अन्यथा पाते कहां
अग नग हमारा आप ।। 96

जानते अस्पृष्ट रहना
धन्य हो तुम व्योम
धार लेते हम सभी कुछ
प्रकृति यह प्रतिलोम ।। 97

(सरसी छंद)

मेरे मंथन हेतु अपेक्षित
देवासुर सहयोग
ज्ञान शक्ति का शुभ संयोजन
सद्‌द्देश्य विनियोग ।। 98

मंथन से भी अब न मिलेंगे
यहां चतुर्दश रत्न
जलचर शंख तेल लवणों तक
सीमित नर के यत्न ।। 99

रत्न प्राप्ति साधन बनना क्या
वासुकि को स्वीकार
अब मंदर भी स्वयं चाहता
सकल रत्न संभार ।। 100

वारुणि भी अब कहां अब्धिजा
भूपर उसका अब्धि
रही कहां दुर्लभ, जन जन को
उसकी है उपलब्धि ।। 101

कमला कमलासन को तजकर
सिंहासन आरूढ़
समय काटते हैं ऐरावत
लघु कांतार निगूढ़ ।। 102

नव धनवंतरि धनवत्तर ही
बनने में हैं व्यस्त
व्याधि व्यथा हारक धन हारक
होने लगे समस्त ।। 103

आज़ सुधा से अधिक प्रेय है
नर को हाटक कांति
अब अमृत अस्तित्व मानते
बुधजन कोरी भ्रांति ।। 104

कौन कामना कामधेनु की
करता है जग मध्य
पिशिताशी के लिए भूमि पर
प्राणी कौन अबध्य ।। 105

कभी धरित्री भी हो जाती
यदि प्रकम्प आविष्ट
मुझसे अनायास हो जाता
जन का विषम अनिष्ट ॥106

निज स्वभाव से विचलित होता
यदि जग में आधार
तो आधेय कहां रख सकता
नियमित निज व्यवहार ॥ 107

स्वयं क्षमा जब सहन न करती
सीमाहीन तनाव
तो तटस्थ कैसे रह सकता
द्रवता जिसका भाव ॥ 108

कितने द्वीप हुए उन्मज्जित
कितने हुए निमग्न
कितने पत्तन बने बढ़े फिर
देखे होते भग्न ॥ 109

देखा मैंने युगों-युगों से
यह परिवर्तन चक्र
किसको दंष्ट्रा बीच दबाता
नहीं काल का नक्र ॥ 110

इसको माना मैंने उठती
गिरती मात्र तरंग
प्रकटन और विलोपन शाश्वत
जीवन के ही ढंग ॥ 111

कभी शुष्कता देखी इतनी
सरिताएं कृशगात्र
मुझ तक पहुंच न पाया उनका
मृदुजल पूरित पात्र ॥ 112

(रूपमाला छंद)

नहीं आवश्यक जनांदोलन
करे कल्याण
जलांदोलन पर सुनिर्भर
जीव जग के प्राण ।। 113

परम जिज्ञासा भरी मम
तरंगें तट ओर
चपल बढ़तीं कूदतीं
किलकारतीं चहु ओर ।। 114

किंतु पातीं वहां केवल
रेत या पाषाण
लौटतीं नैराश्यमग्ना
भग्न मन लघु प्राण ।। 115

(सरसी छंद)

भूतल जल तल से भी अस्थिर
होता मुझे प्रतीत ।
यहां प्रकट उर्मियां धरा पर
लहरें संख्यातीत ॥ 116

यहां पवन प्रेरक तरंग का
कारण वहां अगण्य ।
उस गुप्तोर्मि शक्ति के सम्मुख
सागर लहर नगण्य ॥ 117

एक रूप लावण्य यहां पर
वहां विविध हैं रंग।
समता सहज यहां उर्वी
पर मात्र विषमता ढंग ॥ 118

मरकर भी बहुमूल्य संपदा
रचते यहां प्रवाल ।
जीवित ही क्षय कर्म निरत हैं
बहुगर्वोन्नत भाल ॥ 119

महाकाय भी शौम्य यहां पर
वहां क्रूर लघुप्राण ।
यहां शीत साम्राज्य वहां पर
कहां ताप परित्राण ॥ 120

मम वसु अरूण वर्ण होता है
उदय अस्त रवि साथ।
वसुधा पर अरूणिमा प्रसारण
में हिंसा का हाथ ॥ 121

मम विस्तार असीम भूमि पर
फैला सीमा जाल।
जिनमें बैठा है मानव गण
निज वरता भ्रम पाल ॥ 122

परम विस्तृत बहु प्रजायुत
सरस श्रुत अविभाज्य
शांत है असपत्न वसुनिधि
पाशभृत साम्राज्य ॥ 123

अनल जात जलतत्व न इससे
होता है विपरीत
अर्णव से अर्कोदय होता
भ्रमवश यहा प्रतीत।। 124

मोहित जन वारुणि प्रवृत्त हो
खोता है पीयूष
जगती पर यह तथ्य प्रमाणित
होता है प्रत्यूष ।। 125

स्नेह प्राप्ति के हेतु मनुज मम
वक्ष रहे हैं छेद
हिंसा से कब प्राप्त तत्व यह
नहीं जानते भेद ।। 126

ज्वालामुख आवृत्त तदपि मैं
रहता सदा प्रशांत।
रिपुगण से परिवृत्त
धीरता खोते नहीं महांत ॥ 127

दिग्भ्रम अब मेदिनी विराजित
छोड़ वारि विस्तार
चिर तक रत्नाकर भी क्यों ढोंए
इस अपयश का भार ।। 128

(गीतिका छंद)

तरलता, लावण्य, शीतलता
सहज गुण हैं यहां।
स्वत: स्वीकृत सतत
मर्यादाभिरक्षण है यहां ॥ 129

दे रहा आश्रय सभी को
सदा ही समभाव से।
रहा हूं निरपेक्ष रूपाकार
वर्ण प्रभाव से ॥ 130

जलचर भूचर या कि गगनचर
मैं न मानता भेद
सबको पोषण देता आया
मैं भरपूर अखेद ।। 131

सरस किंतु मैं नहीं कर सका
सब तट यहां सुरम्य
अन्योन्याश्रित उन्नति का पथ
यह विधि नियम अनम्य ।। 132

किंतु मानता मनुज किसी का
कभी यहां उपकार ?
माध्यम मुझे बनाकर ढोता
केवल अपना भार ।। 133

मुझे बनाया कभी मनुज ने
अस्त्र परीक्षण क्षेत्र
भीषण ज्वाला रहे देखते
विवश हमारे नेत्र ।। 134

मम अनंत प्रसार में कुछ
तैरते हिमखण्ड ।
निज कठिनता दर्प निर्भर
भाव जिनके चण्ड ॥ 135

बनें मुझसे, तैरते मुझमें
तदपि पृथकत्व ।
ओढ़कर हैं भटकते
करके तिरस्कृत तत्व ॥ 136

(सरसी छंद)

मुझे भीत करने में सक्षम
परशुराम या राम ।
हम हरि तक को दे सकते हैं
अमित काल विश्राम ॥ 137

मम अवशोषण क्षम न जगत में
रिषि अगस्त्य से भिन्न।
निश्चित आयतिवान अत: मैं
रहता सदा अखिन्न ॥ 138
मकरालय जय स्वप्न देखता
कर निर्मित जलयान।
मात्र हास्य का हेतु भासता
नर का यह अभिमान ॥ 139

जाना वारिधि पार यान से
क्या यह विजय महान
ज्ञाता को गहरा न बनाता
मात्र गहनता ज्ञान ।। 140

मारुतिवत नर भी करते हैं
नित्य नीरनिधि पार।
कौन कर सका किंतु वह्नि से
असुरपुरी नि:सार ॥ 141

हमने अटलांटिक प्रशांत का
किया सफल संयोग
लाल और भूमध्य अब्धि का
नहर बनाकर योग ॥ 142

हास्यास्पद है किंतु तत्वतः
मानव की गर्वोक्ति
इसको माना जा सकता बस
पथ लाघव की युक्ति ॥ 143

है वारीश एक ही भूपर
पृथक पृथक हैं नाम
नरकृत भाषा विवृति मात्र से
नदपति को क्या काम ॥ 144

पहले अणुबम के प्रहार से
मिटा दिए कुछ द्वीप
अब सगर्व कृत्रिम रचनाकर
चलता प्रकृति प्रतीप ॥ 145

किंतु न इससे घट जाता है
बढ़ता नहीं समुद्र
मम परिमाण अपेक्षा से ये
घटनाएं हैं क्षुद्र ॥ 146

मात्र सगर अभिवृद्धि दे सके
परशुराम संकोच
शोषण कुंभज कृत बस देखा
राम विहित उन्मोच ॥ 147

सघन विरल द्रव रूप बदलते
प्रकृत नहीं मम रूप
दृश्यादृश्यमयी त्रिदशायुत
मेरी प्रकृति अनूप ॥ 148

नगर बसे या मिटे न घटता
बढ़ता है आकाश
बनते और लुप्त होते उड़ु
नभ अभिवृद्धि न ह्रास ॥ 149

कुछ ही ऊंची किंतु दीर्घतर
उठकर एक तरंग।
कर देती है प्रकृति विजय का
स्वप्न मनुजकृत भंग ॥ 150

क्षुद्र से कुछ द्वीप निज निधि
मानते हैं अब्धि को
शीश गर्वोन्नत प्रचारित
कर रहे उपलब्धि को ॥ 151

भ्रम न वे पाले बने हैं
मात्र शासन के लिए।
और सब कुछ क्षम्य है
अधिकार आसन के लिए ॥ 152

यह न समझो पराजित
होना हमारी नियति है।
यह न जानों अनवधारित
शत्रुकृत चिर निकृति है ॥ 153

वारिनिधि यदि तरंगायित
पवन से होता कभी।
मात्र कल्पित भीति से ये
द्वीप हिल जाते सभी ॥ 154

विकट बड़वानल समुत्थित
हमीं से होता कभी ।
और फेनिल उर्मियों की
गर्जना सुनते सभी ॥ 155

निंद्य है बलवीर्य पौरुष
यदि न करता त्राण
कर रही हो जब असुरता
प्रकृति को निष्प्राण ।। 156

देखता अतिचार होते
सबल धारे मौन
उस अक्रिय से और बढ़कर
कापुरुष है कौन ।। 157

जब किया था गोत्रभिद ने
पर्वतों पर क्रोध
शरण में मैंने लिया
मैनाक को सविरोध ।। 158

सभय आता हो शरण में
मान क्षमतावान
किंपुरुष वे जो न दें
उसको अभय का दान ।। 159

वृत्र वध में भी दिया
जनभूतिकारी योग
अशनि धारा से हुआ
मम फेन का संयोग ।। 160

कल्पनांता भी कभी
विजिगीषु करते युक्ति
दिलाने इस लोक को
उत्पीड़कों से मुक्ति ।। 161

जनकवत सस्नेह वसुधा
को दिया वसु दान
कर रहा उपहार का
मानव सतत अपमान ।। 162

म्लान मुख मलिनाम्बरा
क्षतदेह अति कृशकाय
कौन यह गतकांति
कंपनशील है मृतप्राय ।। 163

छोड़ती निःश्वास क्या
ज्वालामुखी के ब्याज
हिमानी प्रगलन बना
नयनांबु ही क्या आज ।। 164

घूम कर गिरना नहीं क्या
चक्रवाती वात
मूंदना दृग ही बना क्या
दीर्घ काली रात ।। 165

अल्पपय यदि गो हुई तो
कौन है अभियुक्त
मानते जो है स्वयं को
मातृऋण निर्मुक्त ।। 166

विषम सहती वेदना को
धर चिरंतन मौन
बताती यह भी न इसका
आततायी कौन ।। 167

जनकवत रविकर से प्रवियुक्त
सुधाकर रश्मि वंचिता दीन
पड़ी रुग्णा सी वसुधा आज
ओढ़कर मलिनांबर अति पीन ।। 168

अल्पतोया तटिनी लग रही
तप्ततनु धरा स्वेद की धार
श्वेत सिकता के क्षेत्र विशाल
अरे क्या सित तनुरुह विस्तार ।। 169

बना वर्धित गद ज्ञापक वायु
उष्ण झंझा ही हैं ज्यों श्वास
न भेषज हरती नरजविकार
भिषक भास्कर की घटती आस ।। 170

सोममानस है ग्लानि निमग्न
सुधाकर क्या कहलाने योग्य
यदपि कहलाता औषधिनाथ
अवनि को दे न सका आरोग्य ।। 171

कभी आता यह सघन विचार
करूं हरि से याचना विनीत
देव दानव को दें आदेश
पुनः हो मंथन ममं अभिनीत ।। 172

अमित निकलेगा फिर से गरल
रहें गरलासन भी संनद्ध
न हो अब देवासुर की दृष्टि
मात्र बहु रत्नों में आबद्ध ।। 173

पुनः करनी है सुधा अवाप्ति
दूर करनी है वसुधा व्याधि
आधि मानवता की हो दूर
तोड़ दें पशुपति दीर्घ समाधि ।। 174

यदपि मुझमें निगूढ़ पीयूष
न मंथन बिना प्रकटता बंधु
पुनः संकल्पित हों नर देव
समुद्‌यम बाट जोहता सिंधु ।। 175

(सरसी छंद)

सार प्रतिक्षण खींचती
नर कामना की पूर्ति
जरातुर लगने लगी है
सवित्री की मूर्ति ।। 176

बाल हरि से सीख ली क्या
प्राण शोषण रीति
पूतना पृथ्वी नहीं
कुछ तो रखो अघ भीति ।। 177

हृतहरितपरिधान खोती
निज युवा आकार
सतत बहकर मिल रहा
मुझमें रसा का सार ।।178

सदा प्रक्षालित किए हैं
मही के विषतत्व
धारकर उनको निभाता
आ रहा भ्रातृत्व ।। 179

मुझे गरल से मुक्ति दिलाने
आए स्वयं महेश।
विष प्रदिग्ध पृथ्वी का भी वे
हर लें ताप अशेष ।। 180

सार क्रमशः किंतु खोता
जा रहा मम गातृ
रोक सकते कंठ में विष
विश्व में शिव मात्र ।। 181

दीर्घ सरसी लोचना बस
शून्य को अनिमेष
देखती है सोचती अब
देखना क्या शेष ।। 182

दे दो नरता को तुम जाकर
यह कठोर संदेश
धैर्य परीक्षा ले न सिंधु की
जो भव रूप महेश ॥ 183

भूत धात्री का नहीं अब
सह्य चिर उत्ताप
अक्रियता पर अब मुझे
होने लगा परिताप ।। 184

बढ़ न जाएं बीचिकर मम
वसुमती रक्षार्थ
हो न जाए मनुजता मम
मन्यु से अति आर्त ।। 185

वरुणालय की प्रजा मनुजकृत
करुणाहीन प्रहार
कब तक सहन करेगी जलचर
प्राणों का व्यापार ॥ 186

वरुण न हो जाएं अरुणानन
कहीं न फैले कोप
नरता सहित सकल भूचरगण
कहीं न पाएं लोप ॥187

ज्ञात नहीं नर को मम विक्रम
कुछ ही पद विक्षेप
कर सकते हैं सकल धरा पर
जीवन में विक्षेप ॥ 188

होकर अमर्याद छा जाए
कहीं न पारावार
धारण करना पड़े न हरि को
पुनः मत्स्य अवतार ॥ 189

कर चुका है मनुज सीमा, पाप की अतिक्रांत
नवल उन्नतिद्युति चमत्कृत पूर्णतः उद्भ्रांत
उर्मिमाली विषवहन क्षमता हुई परिश्रान्त
विवश हूं अब सकल भू को करूंगा आक्रांत ।। 190

इतना कह उपरत हुए कोपाविष्ट नदीश
चिर तक सिकतागतचरण खड़ा रहा नतशीश ।। 191

शीतलोर्मिल, सुखद, शुभ
लावण्ययुत, रत्नेश
सरस, मर्यादित, गहन
हरिप्रिय, वसुद, हृतक्लेश ।। 192

हो गए वारीश कैसे
मन्यु की ही मूर्ति
काल क्या इस ब्याज
करने जा रहा क्षुत्पूर्ति ।। 193

चिंता, भय, निरुपायता, ग्लानि, खेद, परिताप
युगपद से थे उदित ज्यों लेने मानस माप ।। 194